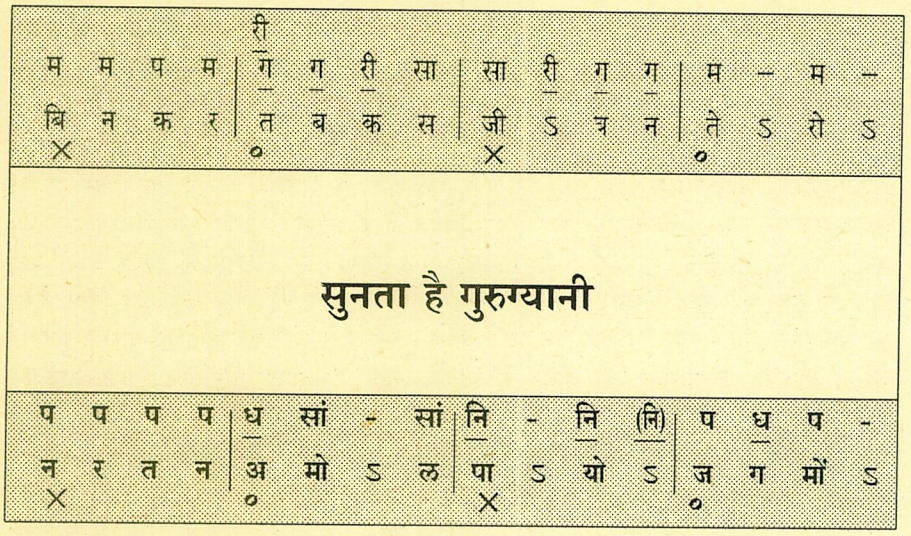

संगीताचार्य डॉ. अण्णासाहब रातंजनकर के समस्त जीवन को एक नजर से देखने पर सही समझ में आता है कि आपका जन्म घरपरिवार को सुचारु रूप से 'हांकने', धनवैभव प्राप्त करके लोक में सभी प्रकार के सुख भोगने और *'बी. ए. किया, नौकर हुए, पेन्शन मिली और मर गए'* के लिए नहीं हुआ था। हिंदुस्थानी संगीतेतिहास के एक अभिमंत्रित तेज:पुंज कालखंड से तपकर निकला हुआ उनका ध्येयवादी व्यक्तित्व अपने पथप्रदर्शक गुरुजनों के शेष कार्य को अग्रसर करने के लिए गठित हुआ था। अत: कहना जरूरी नहीं कि संगीताचार्य अण्णासाहब की जीवनी में घर-परिवार, घरेलू संबंध, अभिनंदन-सम्मानों का चटकीला वर्णन आदि के लिए गुंजाइश नहीं के बराबर रहेगी। 'नहीं के बराबर' का मतलब है कुछ थोड़ा अवसर इन बातों के लिए भी देने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती! .....इसीकी परिपूर्ति इस अंतिम अध्याय में करनी है।

अण्णासाहब ने अपने कार्यकाल में अनेक प्रकार के सम्मान प्राप्त किए, जिनमें भातखंडे संगीत विद्यापीठ के द्वारा ससम्मान 'डॉक्टरेट' की मानद उपाधि प्रदान होना (१९४७), आकाशवाणी ऑडिशन बोर्ड के वाइस चेअरमन के नाते नियुक्ति (१९५०), संगीत के प्रथम शासनाधिष्ठित विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति के रूप में मनोनीत होना (१९५७), और उसी विश्वविद्यालयद्वारा 'संगीताचार्य' की मानद उपाधि प्राप्त होना (१९६०) तथा भारत सरकार के द्वारा 'पद्मभूषण' की उच्चतर उपाधि से विभूषित होना आदि का समावेश होता है। अन्य सम्मानों का भी उल्लेख पहले हो चुका है। इन सब सम्मानों से गुजरते समय अण्णासाहब की मानसिकता कैसी थी, यह विचार यहां महत्त्वपूर्ण है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' के किष्किंधा कांड में पंपासरोवर के वृक्षों का वर्णन करते हुए कहा है–

'फल भर नम्र विटप सब। रहे भूमि नियराई।
पर-उपकारी पुरुष जिमि। नवहिं सुसंपति पाई॥'

अर्थात्, फलों के भार से वृक्ष नम्र होकर भूमि की ओर यों झुक गए हैं, मानो परोपकारी पुरुषों को नई सुसंपत्ति प्राप्त हुई हो। इन सभी सम्मानों को अण्णासाहब ने वीतरागी कर्तव्यबुद्धि से स्वीकार किया और अपना प्रत्येक क्षण उनसे निर्मित उत्तरदायित्वों को पूरी ईमानदारी और समर्पण-भाव से निभाने में लगा दिया। आकाशवाणी के 'प्रकरण' का तो हमने विस्तार से बयान किया, जिसमें यह देखा गया कि एक पाई का भी मानधन न लेते हुए केवल संगीत के व्यवस्थापन और विकास के लिए अण्णासाहब ने न केवल अक्षरश: अपना तन-मन-धन दिया, बल्कि गुनिजनों, गुरुजनों, अभिभावकों और सहयोगियों की नाराजी (और कहीं कहीं तो) द्वेष तक को मोल लिया। फिर इस कांड से निर्मित द्वेष को कहां तक तूल दिया गया, इसे भी हमने देख लिया है। यहां पर यह रेखांकित करना है कि आकाशवाणी द्वारा 'बुकिंग' बंद हो जाने से अण्णासाहब को जीवन के अंतिम दशक में भयानक मानसिक यंत्रणा, अकारण उदासीनता और गिरते हुए स्वास्थ्य का सामना करते हुए अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करनी पड़ी। धीरे धीरे व संगीत के माहौल से ही अपने को खींचते गए और किसीसे मिलना-जुलना छोड़कर अपने ही एकांत में घुटते रहे।

किंतु इस अवस्था के पीछे एक और कारण भी था– पारिवारिक बदलाव। घर के सदस्योंने एक ही निवास में अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाना शुरू कर दिया था– जमाने का प्रभाव! इसीमें बंबई की जगह की तंगी के कारण अण्णासाहब के ज्येष्ठ पुत्र नारायण ने अपना अलग घर बसाया और अपने छोटे भाई विद्याधर के साथ पिताजी को वहां जाकर रहने के लिए मजबूर किया। इस घटना की पीड़ा पहलेवाले हरे घाव पर नमक छिड़कने के समान मर्मांतक बन गई। .....उसीकी कहानी कुछ विस्तार से।-

अण्णासाहब के परिवार की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें आपसी मेल-जोल और परस्पर सहयोग की भावना गजब की थी। वैसे बंबई जैसे शहर में इन लोगों को काफी गरीबी में ही रहना पड़ता था। किंतु एक की आमदनी में दूसरे की सहायता होती थी और इस प्रकार योगक्षेम चल सकता था। अब यह तो स्पष्ट था कि अण्णासाहब को १९२६ से लेकर १९७० तक (क्योंकि साठ के बाद भी उन्हें लखनऊ जाना ही पड़ा था) परिवार से हजार से अधिक मील दूर रहना पड़ा था। छुट्टियों में जितना संपर्क हो पाता उतना ही परिवार से उनका संबंध आता। इस लंबी कालावधि में इस परिवार पर अनेक आपत्तियां आईं, जिसमें अण्णासाहब के ज्येष्ठ बंधु का गांधी हत्या के कांड में वध होने की घटना एक है। फिर श्री गजाननराव ही परिवार की देखभाल करते थे। इस समस्त माहौल में एक व्यक्ति को हम कदापि भूल नहीं सकते - अण्णासाहब की धर्मपत्नी **श्रीमती इंदिराबाई**। उनके त्याग और सहिष्णुता का कोई जवाब नहीं था। यद्यपि परिवार का नेतृत्व उनकी ननंद **श्रीमती माणिकबाई** करती थीं, फिर भी अपने बेटे-बेटियों की निगरानी करना और पति के विरह की पीड़ा को बर्दाश्त करते हुए उनके कार्य में उन्हें प्रोत्साहन देना उन्हींका काम था।

अब अण्णासाहब को अपनी संतान के प्रति लगाव तो अवश्य था, किंतु निरंतर दूर रहने के कारण अपने पुत्रों से उनका संपर्क टूट-सा गया था। इसीलिए आम पिता-पुत्र में जो नैकट्य रहता है, उसका यहां कुछ अभाव ही था। हां, लेकिन लड़के उनका आदर अवश्य करते थे, उनके सम्मान में जरा भी ठेस न आने देते थे। फिर भी पीढ़ी का जो अंतर था, उसके लिए कोई क्या कर सकता है? उदाहरण के लिए अण्णासाहब को अपने पुराने गवालिया टैंकवाले

मकान के प्रति जो अंदरूनी लगाव था, उसकी कल्पना बेटों को नहीं हो सकती थी। यहां पर यह भी बताना जरूरी है कि अण्णासाहब के पिताजी ने अपने देहावसान के समय सब बेटे-बेटियों से यह शपथ ली थी कि हम कभी एक दूसरे से विभक्त नहीं होंगे। वह सारी मानसिकता अण्णासाहब में कूट-कूटकर भरी थी।

किंतु इधर परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ गई थी। सबका इकट्ठा रहना संभव नहीं था। तो उनके दूसरे पुत्र विद्याधरने, जो यूनियन बैंक ऑफ इंडिया में नियुक्त थे, बंबई के जोगेश्वरी विभाग में एक फ्लॅट ले लिया और पिताजी को वे साग्रह वहां रहने के लिए ले गए। अब लखनऊ से अवकाश ग्रहण करने के उपरांत कुछ ही वर्षों में आकाशवाणी से 'कॉन्ट्रॅक्ट' मिलना बंद होने की घटना से अण्णासाहब को जो मानसिक आघात हुआ था, उससे वे पहले से ही मायूस और विरक्त हो गए थे। किसी भी बात में रस लेने का उन्हें मनही नहीं होता था। ऐसी दशा में इस नए स्थलांतर ने उनकी मानसिकता को और भी बिगाड़ दिया। वे नए घर में रहने के लिए तो आए, किंतु किसी संन्यासी से भी विरक्त होकर वहां रहने लगे। किसीसे बात नहीं करते थे। अपने बाहरवाले कमरे को छोड़ वे घर के अंदर भी नहीं गए– आखिर तक!! अपनी चारपाई और कुर्सी पर बंधे रहे।

धीरे धीरे बीमारी ने उन्हें अपनी पकड़ में लिया। दवाइयां लेने से वे एकदम इन्कार करते थे। सच तो यह था कि वे जीने से ही उकता गए थे। संसार से विदा लेना ही उनके लिए शांति का मार्ग था। इसीलिए निग्रहपूर्वक वे सभी इलाजों को नकार देते थे। हम उन्हें अस्पताल में दाखिल करना चाहते थे, किंतु वे मानें तब न! आखिर हमारे सी. आर. व्यास आगे बढ़े। उन्होंने अस्पताल ले जाने में उनको मना लिया। वहां जाने पर जब जांच हुई तब डॉक्टरों ने बताया कि ये टी. बी. के शिकार हो चुके हैं और उस अवस्था को पार कर गए हैं कि इलाज कारगर ही नहीं हो पाएंगे। ऐसी हालत में भगवान के संदेश की प्रतीक्षा करने के सिवा कोई कर ही क्या सकता है? वह संदेश १३ फरवरी १९७४ को मध्यरात्रि के पश्चात् १.१० बजे आ गया और संगीत के संसार का एक तेजस्वी नक्षत्र पंचत्व में विलीन हो गया।

इस प्रसंग को पूरा करने से पहले श्मशानभूमि पर घटी एक इलहामी घटना का जिक्र करना इसलिए जरूरी लगता है कि उससे परिवार के प्रति अण्णासाहब की जो मानसिकता थी वह और स्पष्ट होगी। हिंदू धर्मसंस्कार के समान श्मशान में 'काकपिंड' कराना था। श्राद्ध के बाद पिंड बनाए गए और कौओं के स्पर्श की प्रतीक्षा होने लगी। संयोग ऐसा रहा कि एक भी कौआ पिंड के पास फटकने को तैयार नहीं था। फिर प्रथा के अनुसार एक एक वचन दिए जाने लगे। अंत में हमारी गुरुमाता श्रीमती इंदिराबाई आगे बढ़ी। उन्होंने कहा– "आपका प्रत्येक वार्षिक श्राद्ध हम गवालिया टैंकवाले मकान में ही करेंगे।" बस इतना कहना था कि काकस्पर्श हुआ! .....घटना इलहामी है। किंतु बहुत कुछ कहनेवाली है!

अण्णासाहब दुनिया से विदा हुए, किंतु हम शिष्यों के हृदय में वे आज भी वैसे ही जीवित हैं। केवल हृदय में क्या कहूं– हमारे आसपास, हमारे परिसर में भी! आज भी वे हमारा मार्गदर्शन करते हैं, हमारी मुश्किलों को आसान करते हैं। उनका अस्तित्व हमारे चारों तरफ है। मुझे कभी नहीं लगता कि अण्णासाहब मुझसे दूर गए हैं। और यह अनुभव केवल मेरा नहीं, मेरे गुरुभाइयों का भी रहा है। और मैं यह भावविवश होकर नहीं कह रहा हूं, मेरे अपने और मेरे गुरुभाइयों के अनुभवों के आधार पर कह रहा हूं। इन अनुभवों का यहां बयान करने से

पहले यह कहना जरूरी लगता है कि यदि किसीको ये काल्पनिक लगें तो लग सकती हैं, किंतु हैं वह वास्तव में घटी हुई घटनाएं ही।

नया राग चारुमती

सबसे पहले हमारी बहन जरीन दारुवाला (आज शर्मा), जो कि विख्यात सरोद कलाकार हैं, के साथ घटी एक घटना का बयान करें। जरीनजी ने जिन गुरुओं से संगीत सीखा उनमें भटसाहब का मार्गदर्शन ज्यादा था। उनको संगीत की 'नजर' भटसाहब की शिक्षा से ही प्राप्त हुई है। उनके पास सीखते समय अण्णासाहब से भी उनका काफी संपर्क होता रहा था। तब जरीन बहन के पिताजी ने अण्णासाहब से कहा था कि आपका भी नाम हम गुरुजनों में रखना चाहते हैं। अण्णासाहब ने भी कहा- "ठीक है, तुम्हें जब वक्त मिले, तब आ जाया करो।" इसमें भाव यह था कि एक घर का शागिर्द होने पर वह अपना ही हो गया। इस प्रकार जरीनजी ने अण्णासाहब को भी अपना गुरु मान लिया था।

श्रीवल्लभ संगीतालय में अण्णासाहब की पहली या दूसरी पुण्यतिथि मनाई जानेवाली थी, जिसका संयोजक और निवेदक मैं ही था। पुण्यतिथि के अवसर पर आयोजित संगीत के कार्यक्रम में हमने श्रीमती जरीनजी का सरोदवादन आयोजित किया। उन्होंने भी सहर्ष हामी भर दी। 'ग्रीन रुम' में वे साज को मिला रही थीं तब मैंने उनसे राग का नाम पूछा। उन्होंने कहा- "आज मैं गुरुवर अण्णासाहब को मेरा बनाया एक नया राग सुनाना चाहती हूं और उसकी प्रथम प्रस्तुति के लिए उनका आशीर्वाद पाना चाहती हूं। आप 'चारुप्रिया' राग घोषित कर दीजिए। और यह भी कहिएगा कि मैं अपना यह नया राग गुरुजी को सुना रही हूं।" मैंने उसी तरह से घोषित कर दिया और चूंकि वह आखिरी 'आइटेम' था, मैं सामने श्रोताओं में जा बैठा। सरोदवादन बढ़िया रहा और राग भी सुंदर था। सब लोग अपने अपने घर गए। सब ठीक-ठाक ही हुआ था। रात को मैं निद्राधीन हुआ।

....और सुबह साढ़े पांच बजे मेरी आंख खुल गई, अण्णासाहब की आवाज सुनकर! उनकी आवाज तीन बार मेरे कानों में गूंज उठी– 'चारुमती, चारुमती, चारुमती!' यह अण्णासाहब की आवाज है और वे 'चारुमती' शब्द का उच्चारण कर रहे हैं। तीन बार स्पष्टत: वह शब्द मैंने सुना। फिर सब कुछ शांत हो गया। मैं सोच में पड़ गया; मेरी नींद खुल गई। सोचते सोचते साढ़े आठ बजे। मेरे दिमाग में रोशनी की किरण जागी। संभव है कि इसका संबंध जरीनजी के नूतन राग के नामकरण से हो। मैंने तुरंत बहनजी को फोन किया और पूछा–

"जरीन बहन, कल आपने जो राग बजाया, क्या उस में चारुकेशी में तीव्र मध्यम का प्रयोग किया था?"

"हां, बिलकुल सही है। मैंने चारुकेशी में तीव्र मध्यम लगाकर ही बजाया था। इसीलिए उसका एक दूसरा नाम 'चारुप्रिया' मैंने रखा।"

इसपर मैंने जरीनजी को सारी घटना बता दी। उन्हें ताज्जुब होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने कहा– "आज से मैं इस राग का नाम 'चारुमती' ही रखूंगी, तीव्र मध्यमवाला चारुकेशी!"

भातखंडे-प्रशस्ति-पद

अब खुद मेरे साथ घटी हुई दस-एक वर्ष पूर्व की घटना बताता हूं। हमारे भारतीय विद्याभवन

के संगीत शिक्षापीठ के द्वारा भातखंडे पुण्यतिथि के अवसर पर 'भातखंडे उत्सव' मनाने की प्रथा चलती है। तो गुरुबंधु दिनकर कायकिणी, जो वहां संगीतपाठ के अध्यक्ष हैं, के मन में यह कल्पना आई कि इस वर्ष हर दिन की संगीत-सभा का आरंभ 'चतुर प्रशस्ति' (पं. भातखंडे प्रशस्ति) के साथ हो और वह गीत कोरस में (सामूहिक रूप से) गाया जाए। फिर एक सबेरे दिनकर का फोन आया। उन्होंने सबेरे के सत्र में मेरा भाषण रखा था। विषय था- 'भातखंडेजी का सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण- हिंदुस्थानी संगीत के संदर्भ में।' उत्सव के १५ दिन पूर्व दिनकर का फोन आया।

''क्यों भई, अण्णासाहब ने भातखंडे प्रशस्ति का कोई पद सुबह के रागों में बनाया है?''

मेरे मुंह से निकल पड़ा- ''हां, है शायद?'' तब दिनकर ने कार्यक्रम में उस पद को गवाने की व्यवस्था कर दी और कार्यक्रम को निमंत्रण में छपवा भी दिया। इधर मैं सोच में पड़ गया कि मैंने कह तो दिया कि गीत है, लेकिन वह मिले तब न! अण्णासाहब की जितनी बंदिशें मेरे पास थीं, सबको एक एक करके देखा, किंतु सुबह के रागों में 'भातखंडे प्रशस्ति' का कोई गीत नहीं मिल रहा था। फिर तो मैं बेहद बेचैन हो गया। अब मैंने अण्णासाहब को ही गुहार देना उचित समझा और मन ही मन उनसे कहने लगा – ''अण्णासाहब मैंने 'कमिट' कर दिया है अब आप ही मेरी सहायता कीजिए।''

यहां जाते जाते यह कह देना चाहिए कि अण्णासाहब ने अपने हरेक शिष्य को रचना बनाने के लिए प्रोत्साहित किया था, उसके अनुसार कई एक शिष्यों ने वह परंपरा चला दी है। मुझे भी उन्होंने प्रेरणा दी थी। यों मैंने कुछ बंदिशें और तराने बनाए भी हैं, लेकिन पुरानी बंदिशों को ही याद करना उचित समझकर मैं उस प्रवृत्ति से धीरे धीरे हट गया था। इसी कारण ऐन वक्त पर कोई दर्जेदार गीत बना देने की बात मेरी चिंता का विषय हो रही थी। फिर भी एक एक पंक्ति को जोड़-तोड़ कर कोई रचना बनाने का प्रयत्न मैं करता रहा। किंतु संतोष नहीं हो रहा था। अंत में जब मैंने अण्णासाहब को ही सहायतार्थ पुकारा तब.....

दूसरे दिन प्रातःकाल, भोर के प्रथम प्रहर में मेरे कान में अण्णासाहब की आवाज गूंजने लगी।–

चतुर गुणगान बखानत सुजन। चतुर गुणगान बखानत और पूरी बंदिश बन गई। उसका कुछ अंश देखिए–

चतुर गुणगान बखानत सुजन। चतुर गुणगान बखानत।
भरतखंड विप्रवंश विष्णु। नारायणांशतें तुम अमर भयो॥ध्रु.॥
बाल-अवस्था सुर-चिंतन करि। गीत ग्यान में गुनि कहलायो।
ताहि संग तुंव नियमरीत। संपादन करि निज जीवन सफल बनायो॥
.....इत्यादि।

तो इस बंदिश को उसकी स्वररचना के साथ मैं अपनी अर्ध-तंद्रा में सुनता और गुनता रहा था और उसी अर्धजागृत मनोदशा में सोच रहा था कि इसमें नाममुद्रा या तखल्लुस क्या दिया जाए। और इसी बीच अंतिम पंक्ति सुनाई पड़ी—

'त्रिवार वंदन करहु 'सुजनसुत'
धन्य चतुर, हर रंग तुंव अमर बनायो।'

'सुजान' अण्णासाहब का सांगीतिक उपनाम था और उनका सुत मैं अर्थात् सुजनसुत! साथ ही भातखंडे जी के और एक उपनाम 'हर रंग' का प्रयोग भी उनके लिए भातखंडे प्रशस्ति के पदों में अण्णासाहब ने नहीं किया था। इस उपनाम का प्रयोग भातखंडेजी ने अपने गुरु महमदअलीखां को अर्पण की हुई स्वरचित बंदिशों में अपने लिए किया था। तो ऐसी अद्‌भुत घटना! इस बंदिश के शब्दचयन को देखकर ही अण्णासाहब की स्वरों की और शब्दों की शैली की शक्ल अपने आप उजागर हो जाती है। फिर उसकी साहित्यिकता को देखने पर उनकी शैली के दर्शन और स्पष्टता से होते हैं। अर्धनिद्रा में बंदिश की पंक्तियां सुनने का यह सिलसिला ६-७ दिन तक चलता रहा। मैंने जो पंक्तियां सुनी थीं, उन्हें एक एक याद करके मैं कागज पर उतारता गया। कार्यक्रम में इस बंदिश का गायन हो जानेपर सब लोग हैरान रह गए। जब गुरुबंधुओं को सारी घटना बता दी तब उनका हृदय हर्ष से और भक्तिभाव से भर गया! इसमें एक और विशेष संयोग भी रहा। जिस दिन सपने में आकर अण्णासाहब ने बंदिश की आखिरी पंक्ति मुझे सुनाई वह दिन १० अगस्त था याने भातखंडे जी का जन्मदिवस! इसलिए उस वर्ष जो स्मारिका प्रकाशित हुई, उसमें दिनकर कायाकिणी ने एक खास नोट छपवाई– "भातखंडे-प्रशस्ति की बंदिश गुरुवर्य रातंजनकरजी की प्रेरणा से उनके मानसपुत्र 'सुजनसुत' के द्वारा रची हुई है।"

और अण्णासाहब को लेकर इस प्रकार की अनुभूति मुझे बराबर मिलती रही है। मैं जब जब उनको हृदय से पुकारता हूं तब वे मेरे पास आ जाते हैं। मुझे यह हमेशा महसूस होता रहा है कि जब कभी संगीतविषयक कोई गंभीर चिंतनात्मक भाषण देना होता है (और ऐसे नए नए विषय चुनने की भी मेरी प्रवृत्ति है) तब भीतर से अण्णासाहब ही मुझे प्रेरणा दे रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है। एक समय भारतीय विद्या भवन में चर्चा के दौरान मैंने एक दलील की "कई राग ठाठ-परिवर्तन से बदल गए हैं। राग के किसी अंग का ठाठ बदल दीजिए, राग बदल जाता है। उदाहरणार्थ, मुलतानी धनाश्री अंग का राग है। उसमें तोड़ी-ठाठ के स्वर हैं। फिर भी रागांग बदलने से ठाठ में सुर पलट गए। मुझे यह एक अनुभूति उस वक्त मिल रही थी।" मैंने वैसा बोल दिया और उसका प्रात्यक्षिक भी गाकर प्रस्तुत कर दिया। अब यह जो उद्‌भावना थी उसका संकेत अण्णासाहब के द्वारा मिली तालीम में नहीं आया था। वह बात भाषण के दौरान नए सिरे से सामने आ गई। और इसका मैं यही मतलब समझता हूं कि गुरुवर अण्णासाहब ही हमें बार बार प्रेरणा देते रहते हैं।

इसी प्रकार की अनुभूति मेरे गुरुबंधु पं. दिनकर कायकिणी को भी मिली है। उन्हें 'राग जोग' की तालीम प्राप्त नहीं हो सकी थी और इस राग को महफिल में साधिकार प्रस्तुत करने की ललक उन्हें बेचैन बनाए दे रही थी। एक दिन, इसी प्रकार, सपने में अवतरित होकर अण्णासाहब ने नई बंदिश के साथ दिनकर को उस राग की तालीम दी और उसके बाद दिनकर की महफिलों में वह राग अत्यंत आकर्षक अंग बन गया! हां, इन सब घटनाओं को देखकर किसी किसी को विश्वास नहीं भी हो सकता है। किंतु ये अनुभव की हुई सत्य घटनाएं हैं, इसमें तिलमात्र भी कल्पना का अंश नहीं।

भरत-वाक्य

संगीताचार्य गुरुवर अण्णासाहब रातंजनकर जी का चरितगान जितना भी किया जाए, हम

शिष्यों को वह अपूर्ण ही लगेगा। मुझे विश्वास है कि इतना सब बयान-बखान करने के बावजूद बहुत-सी बातें छूट गई हैं। इसकी अंशात्मक परिपूर्ति की दृष्टि से इस बृहद्ग्रंथ के 'संपादक मंडल' ने अण्णासाहब के लगभग सभी शिष्यों से लेख, संस्मरण, छायाचित्र आदि को प्राप्त करके ग्रंथ में ग्रथित कर दिया है।

मैं अपनी तरफ से और हम सब गुरुभाइयों की तरफ से इतना ही संतोष व्यक्त करना चाहता हूं कि हमारे द्वारा गुरुवर रातंजनकर की कुछ न कुछ सेवा इस ग्रंथ के माध्यम से हो सकी। यों उनके लिए जितना भी किया जाए, कम ही है। उनके अपार ऋण से मुक्त होना तो संभव ही नहीं। उस ऋण को वहन करना ही संतोषप्रद है।

संत कबीर ने कहा है–

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागौं पाय ?
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो बताय ॥

संगीत तो गोविंद-स्वरूप है। उस गोविंद की प्राप्ति हमें गुरुमहोदय की कृपा से ही हो सकी। कबीर का कहना है कि जिन गुरुजी ने गोविंद से हमारा साक्षात्कार कराया, उन्हींके चरण सर्वप्रथम छूने चाहिए। हमारे मन में अण्णासाहब के लिए यही स्थान है।

परमात्मा से हम सर्वात्मना यही कामना करेंगे कि–

- हम सबके हाथों गुरुमहोदय की अधिक से अधिक सेवा संगीत विषयक कार्य के द्वारा होती रहे, और
- सर्वंकष दृष्टि से संगीत का विकास और और होता रहे और उस सुरसरिता के प्रवाह को अक्षुण्ण रखने के कार्य में भातखंडे परंपरा के हम सभी शिष्यों के जीवन का हर क्षण और हर कण नि:स्वार्थ भाव से समर्पित होता रहे !!